रौशनी का रंगमंच

वोल्फ़गांग शिवेलबुश

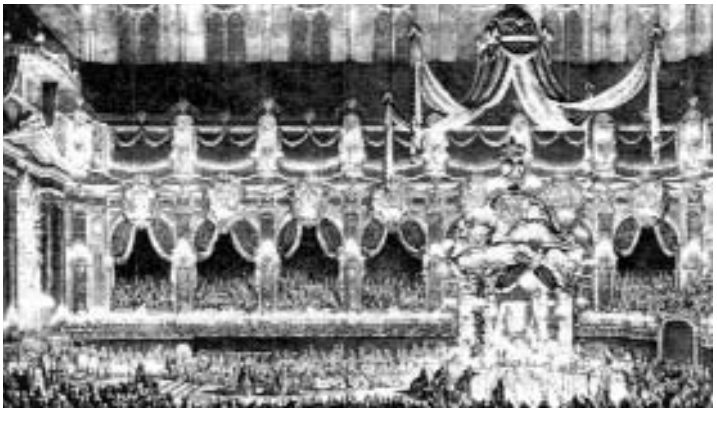

> यदि रंगशाला में बिजली की रौशनी लगानी है तो अब तक रंगमंच को आम तौर पर जिस तरह से बनाया जाता था उस पूरे ढर्रे को बदल देना पड़ेगा। पारंपरिक मोटी लकीरों और काले धब्बों की जगह ज़्यादा बारीक, सुघड़ छवियाँ अंकित करनी होंगी और मंच पर गैस की अंतरंग रौशनी में, रंगरोग़न के ज़रिए जो जादुई असर पैदा किया जाता था वह विद्युतीय प्रकाश की मौजूदगी में तो ग़ायब हो ही जाएगा।
>
> (डॉयचऽ बाउत्साइटुंग, 1882)
>
> एक दीवार और एक कुर्सी। बस!
>
> (बेर्टोल्ट ब्रेष्ट)

सत्रहवीं सदी की डच पेंटिंगों की भूमिका के बाद अठारहवीं सदी के दूसरे उत्तरार्द्ध में बुर्जुआ यथार्थवाद ने रंगमंच पर अपनी विजय पताका फ़हरा दी। पारंपरिक बैरॉक़ थिएटर में प्रयुक्त वैभव-प्रदर्शन, ज्यामितीय ढाँचे, रूपक व दैवीकरण की प्रथाएँ नयी संवेदना में पगे लोगों को नाहक फ़िज़ूलख़र्ची, अराजक

व असह्य लगने लगीं। अठारहवीं सदी ने 'प्रकृति', 'प्रकृति का अनुकरण', 'प्राकृतिकता', और 'भ्रम' जैसे नारे लगाते हुए बैरॉक़ थिएटर की अपनी विरासत को हाशिए पर सरका दिया।

यह नया रुझान संभवत: रंगमंच के केंद्रीय परिप्रेक्ष्य में सबसे साफ़ तौर पर सामने आया। बैरॉक़ थिएटर के मंच को सिर्फ़ और सिर्फ़ शासक की नज़र को दिमाग़ में रखकर बनाया जाता था; रंगमंच के बारे में उसका दृष्टिकोण ही एकमात्र ऐसा दृष्टिकोण था जो 'चल सकता' था। 'कमरे में बैठे बाक़ी दर्शक ऊपर से देखने व शिरकत करने को विवश थे—उनके नीचे शासक होता था—जैसे गर्भगृह में कोई दिव्य अधिष्ठाता महंत विराजमान हो!' अठारहवीं सदी के दर्शकों को अधिनायकवादी दृष्टि से शासित रंगमंच की यह छवि बर्दाश्त नहीं थी। जैसा कि ज्याँ बैपटिस्ट प्यूजॉक्स ने अपनी पुस्तक *पेरिस आ ला फ़िन द्यू 18ई* सिएक्ल में लिखा है कि अब तक की स्पष्ट, सर्वमान्य सामाजिक व्यवस्था उलट-पुलट कर अचानक मटमैली व धुंधली दिखायी देने लगी:

> मंच के सेट को रंगने वाला रंगसाज़ जिस परिप्रेक्ष्य से सेट को तैयार करता है उसमें केवल एक दर्शक की दृष्टि से ही अर्थ दिखायी देता है। नतीजतन, जहाँ एक साथ 2,000 दर्शक बैठे हों वहाँ बाक़ी 1,999 दर्शक उसी सीट पर नहीं बैठ सकते और वे ख़ुद को या तो मंच से बहुत दूर या बहुत पास, या बहुत ऊँचे, या बहुत नीचे या बग़ल में बहुत दूर बैठा पाते हैं। ऐसी स्थिति में एक केंद्रीय धुरी को ध्यान में रखकर बनाए गए सेट आपस में गड्ड-मड्ड और विच्छिन्न रेखाओं का गुंझलक बनकर रह जाते हैं। इन रेखाओं से एक निहायत वीभत्स संरचना उभरकर आती है; बल्कि ऐसा लगता है मानो किसी ने ड्रॉइंग रूम को उलट कर रख दिया हो।

बैरॉक़ रंगमंच की प्रकाश व्यवस्था—जो सबसे अहम तौर पर एक केंद्रीय परिप्रेक्ष्य के लिए बनायी गयी रौशनी थी—भी अठारहवीं सदी में हमले की ज़द में आ गयी। मंच पर होने वाली हर चीज़ लाज़िमी तौर पर प्रकृति को ही निरूपित करने वाली होनी चाहिए थी। न केवल अभिनय, वेश-सज्जा और दृश्य-सज्जा, बल्कि हर चीज़ को एक-दूसरे से अलग करने वाली रौशनी भी प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए थी। अचानक लोगों ने महसूस किया कि रौशनी के मामले में रंगमंच पेंटिंग से कहीं बहुत पीछे छूट गया है क्योंकि पेंटिंग में सौ साल से भी ज़्यादा समय से प्रकाश-छाया-चित्रण की तकनीक प्रयोग में थी। मंच के सिद्धांतकारों में फ़्रांसिस्को अल्गारोत्ती उन शुरुआती लोगों में से एक थे जिन्होंने पेंटिंग में होने वाले प्रकाश के इस्तेमाल को मंचीय रौशनी के मॉडल के रूप में देखा। समकालीन रंगशालाओं की प्रकाश व्यवस्था के बारे में शिकायत भरे लहज़े के साथ 1750 में उन्होंने कहा, 'इसको (यानी रौशनी को) समरूप और किफ़ायती ढंग से कैसे फैलाया जाए इसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता':

> मंच पर के विभिन्न तत्त्वों पर बीमार-सी रौशनी पड़ती है, उसकी आभा बेजान होती है, जिसकी वजह से वे ठीक से उभर नहीं पाते। इसके बावजूद यदि मंच प्रकाश व्यवस्थापक रौशनी को फैलाने की कला सीख लें, यदि उसे मंच के कुछ ख़ास हिस्सों पर संकेंद्रित किया जा सके और बाक़ी को अँधेरे में रखा जा सके तो क्या मंच में अंधेरे-उजाले की वह शक्ति और जीवंतता नहीं आ जाएगी जो रेम्ब्रान्ड्ट अपनी पेंटिंगों में सफलतापूर्वक पैदा कर चुका है। बल्कि ये भी हो सकता है कि आप दृश्य-सज्जा में भी प्रकाश और छायाओं की वह मनमोहक अंत:क्रिया पैदा कर दें जो आपको जॉर्जियोनी और टिशियन की चित्रकला में दिखायी देती है।

1760 में बैले मास्टर और नृत्य निर्देशक ज्याँ जॉर्जेस नोवेरे ने भी इसी प्रकार बैरॉक़ मंच की सममिती (symmetry) की निंदा की और उनकी जगह एक बेतरतीब, ज़्यादा प्राकृतिक प्रकाश व्यवस्था के हक़ में दलील दी:

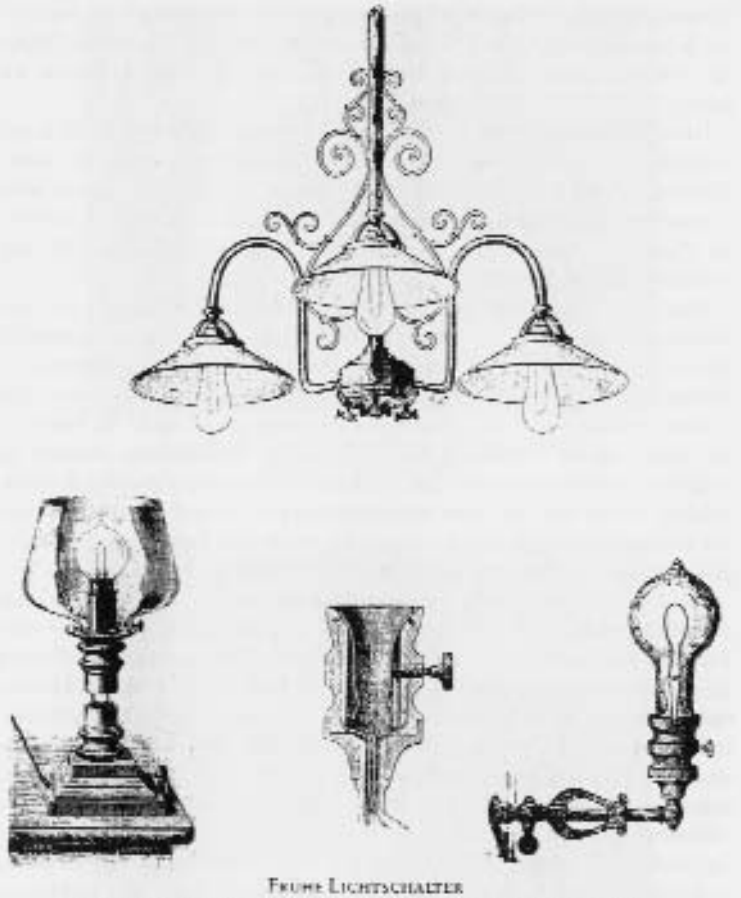

Frühe Lichtschalter
Deutlich erkennbar ist noch auf Jahre hin das Vorbild der Gashebel.
Auch die elektrischen Schalter werden *gedreht*,
und sie befinden sich unmittelbar an der Lampe.
Die eigentliche Schaltung, das »Knipsen«,
und die Betätigung aus der Entfernung kommen erst Jahre später.
(Aus: La Lumière électrique, A. Fürst)

> यह लैम्पों की भारी तादाद का मामला नहीं है जिन्हें यहाँ-वहाँ या सममितीय ढंग से सजा देने भर से रंगमंच बढ़िया दिखने लगते। मुश्किल चीज़ ये है कि रौशनी को असमान ढंग से ऐसे फैलाया जाए जिससे वे हिस्से अलग दिखने लगें जहाँ ज़्यादा रौशनी होनी चाहिए जबकि जहाँ रौशनी की ज़रूरत न हो वो हिस्से पूरी तरह अँधेरे में रहें। जिस प्रकार पर्स्पेक्टिव (चित्र को देखने या बनाने का ख़ास कोण) के हिसाब से चित्रकार अपनी तस्वीरों में वर्ण और वर्णाभास पैदा करता है, उसी प्रकार लाइटों को सजाने वाले व्यक्ति को भी पेंटर से सलाह लेनी चाहिए ताकि वैसे ही वर्ण और वर्णाभास लाइटिंग में भी दिखायी देने लगें।

बैरॉक़ थिएटर में जिस क़िस्म की स्टेज लाइटिंग विकसित हुई वह अठारहवीं सदी का अच्छा-ख़ासा वक़्फ़ा गुज़र जाने के बाद भी कुल मिलाकर वैसी की वैसी ही बनी रही। अपनी ठोस ज्यामितीय संरचना के अलावा शक्ति के अभाव ने भी इसे नाट्यशास्त्रीय अपेक्षाओं के सामने कमज़ोर साबित कर दिया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के रंगमंच को 'रौशनी का फ्रेम' नामक पद सबसे अच्छी तरह बयान करता है। यह इस मायने में कुछ-कुछ सैरबीन (बायस्कोप) जैसा लगता था कि इसके किनारों पर उजाला न होकर वहाँ सिर्फ़ रौशनी की हल्की लकीरें दिखायी देती थीं। इस लिहाज़ से यह समकालीन सड़क प्रकाश व्यवस्था जैसा था। फ्रेम आफ़ लाइट या रौशनी का ख़ाका तीन जगह स्थित रौशनियों से वजूद में आता था: बाजू या पार्श्व की रौशनियाँ जो मंच के अगली तरफ़ की गोलाई और बाजू में स्थित होती थीं, फुटलाइट्स जो अभिनेताओं पर उनके ठीक आगे और नीचे से रौशनी डालती थीं, और (हेड) शीर्ष लाइट्स जो प्रोसीनियम मंच की छत पर और किनारों पर स्थित होती थीं और परावर्तकों के ज़रिए नीचे की दिशा में केंद्रित रहती थीं। बहरहाल, उन्नीसवीं सदी तक शीर्ष लाइटिंग एक अपवाद बनी रही क्योंकि अभी तक प्रकाश के जो स्रोत उपलब्ध थे वह इतने कमज़ोर थे कि आवश्यक दूरी तक पर्याप्त रौशनी फेंक ही नहीं सकते थे। इसी समस्या ने बाजू की रौशनियों या पार्श्व प्रकाश पर भी असर डाला हालाँकि यहाँ इसका उतना असर नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि मंच का केंद्रीय भाग लगातार रौशनी की कमी से जूझता रहा। पार्श्व प्रकाश मंच के मध्य भाग तक पहुँचता ही नहीं था जबकि क़ायदे में वहाँ सबसे ज़्यादा उजाला होना चाहिए था। बल्कि होता ये था कि परदे से लेकर मंच के पिछले हिस्से तक नीम अँधेरे की एक चौड़ी पट्टी फैली रहती थी।

इन हालात में यवनिका (पर्दों) के ऐन नीचे लगी फुटलाइट्स या फ़र्शी बत्तियाँ ही एकमात्र विकल्प थीं। यहाँ उनके और अभिनेताओं तथा बोर्ड्स के बीच दूरी सबसे कम होती थी। परन्तु यह भी सच है कि फ़र्शी बत्तियाँ भी पूरे मंच को रौशन नहीं कर पाती थीं बल्कि मंच के अगले हिस्से की एक छोटी सी पट्टी पर ही उजाला फेंककर रह जाती थीं। यही वह जगह थी जहाँ सबसे ज़्यादा सरगर्मियाँ होती थीं – या यूँ कह लें कि – यही वह जगह थी जहाँ अभिनेता उजाले और जगह के लिए जद्दोजहद करते हुए गुत्थमगुत्था रहते थे। नैसर्गिकता को बेहद उच्च मूल्य देने वाली अठारहवीं सदी के सौंदर्यबोध के लिए यह पाबंदी भी लगभग उतनी ही बड़ी थी जितनी बड़ी एक और समस्या थी, यथा, कि यह रौशनी प्राकृतिक प्रकाश की तरह ऊपर से नहीं बल्कि नीचे से आती थी। प्यूजॉक्स पूछते हैं, 'अगर हम प्रकाश के स्रोत को अभिनेताओं के पैरों में पड़ा देखें तो क्या हमें ऐसा नहीं लगेगा मानो यह सीधे पाताल से आ रही है?' वह आगे कहते हैं: 'आख़िर कुदरत में तो यही होता है कि रौशनी हमेशा ऊपर से नीचे आती है, जबकि रंगशाला में हम पाताल से आती रौशनी को देखने के लिए ही अभिशप्त हैं!' क्योंकि रौशनी नीचे से आती थी इसलिए ई.टी.ए. हॉफ़मैन के शब्दों में, अभिनेताओं के चेहरे 'कुरूप मुखौटों' जैसे विकृत दिखायी देते थे और 'हमारे समूह (कलाकारों के समूह) चीनी पेंटिंगों जैसे मालूम पड़ते हैं जिनमें न तो कोई वर्ण-विन्यास है और न कोई पर्स्पेक्टिव – और ये सब इस बेहूदा लाइटिंग की वजह से है।' इस प्रभाव ने लैवेटर द्वारा पढ़ायी गयी आकृति विज्ञान संबंधी अभिव्यक्तियों की अठारहवीं सदी की कला का मज़ाक बना कर रख दिया। फुटलाइटिंग उस समय एकमात्र व्यावहारिक साधन थी

परन्तु विकृति तो उसमें अंतर्निहित थी। रंगशाला को लेकर अठारहवीं सदी में चलने वाली सार्वजनिक बहसों की यह सबसे बड़ा मुद्दा था। मिसाल के तौर पर, अभिनेत्री मादाम रिकोबॉनी ने अपने आलोचक दिदेरो को अभिनेताओं की दुविधा के बारे में सफ़ाई देने की कोशिश की क्योंकि दिदेरो की शिकायत थी कि सारे अभिनेता मंच के अगले हिस्से में रहने की जो कोशिश करते रहते हैं वह स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। रिकोबॉनी ने लिखा, 'किसी महत्त्वपूर्ण दृश्य में कुल अभिव्यक्ति चेहरे पर ही निर्भर करती है। कई ऐसे क्षण होते हैं जब एक हल्की सी नज़र या सिर का धीरे से झटकना भी बहुत अर्थप्रवण हो उठता है। एक छोटी सी मुस्कराहट इस बात का इशारा हो सकती है कि व्यक्ति बोलने वाले का मज़ाक उड़ा रहा है, या जिससे बात कर रहा है उसको बेवकूफ़ बनाने की कोशिश में है। नाक की सीध में देखने या नज़रें झुकाने के हज़ार अलग-अलग मतलब हो सकते हैं। मगर यदि अभिनेता सामने रखी रौशनियों से तीन क़दम से ज़्यादा दूर हो तो कोई उसका चेहरा देख भी नहीं सकता।'

जब तक और ज़्यादा शक्तिशाली रौशनी उपलब्ध नहीं हुई थी तब तक फ़ुटलाइट्स ही रंगमंच के लिए रौशनी का एकमात्र असरदार ज़रिया बनी रही। रंगशाला वास्तुशिल्पी लुई कातेल ने 1802 में स्थिति को इन शब्दों में बयान किया:

> दुर्भाग्यवश, मौजूदा रौशनी से बेहतर किसी चीज़ की ईजाद करना लगभग असंभव प्रतीत होता है। मौजूदा रौशनी अभिनेताओं पर नीचे से बेहद अप्राकृतिक, बल्कि अप्रीतिकर ढंग से उजाला फेंकती है। हालाँकि रंगशाला की दीवारों पर लगी पार्श्व रौशनियों के ज़रिए इस स्थिति से बचने की कोशिश तो की गयी परन्तु क्योंकि प्रोसीनियम मंच काफ़ी बड़ा होता है इसलिए उसके मध्य भाग तक फिर भी पर्याप्त रौशनी नहीं पहुँच पाती। यदि हम ऊपर से रौशनी डालने की कोशिश करते तो भी यह फ़ासला इतना लंबा था कि पर्याप्त रौशनी अभिनेताओं तक नहीं पहुँच पाती थी।

सन् 1800 तक फ़ुटलाइटिंग की जगह ऊपर से पड़ने वाली रौशनी को स्थापित करना तकनीकी रूप से नामुमकिन था लेकिन इसके बाद भी लोगों ने इस विषय में अपने-अपने सिद्धांत देना बंद नहीं किया। शीर्ष लाइटिंग के विषय में बहुत सारे विचार सुझाए गए पर उन्हें तब तक व्यवहार में लागू नहीं किया जा सका जब तक उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नयी तकनीकें नहीं विकसित कर ली गयीं। मिसाल के तौर पर, कातेल, जिन्होंने ज़ाहिरा तौर पर फ़ुटलाइटिंग के साथ जीने का समझौता कर लिया था, ने पार्श्व एवं शीर्ष लाइटिंग से युक्त एक नाटकीय परियोजना भी तैयार की। 'मंच को परावर्त्तिका की छः लंबवत, खड़ी क़तारों के ज़रिए बग़लों से और परावर्त्तिका की ही दो क्षैतिज, लटकी हुई क़तारों के ज़रिए ऊपर से प्रकाशित किया जाएगा। इस व्यवस्था का उद्देश्य रौशनी को अधिकतम संभव सीमा तक सेट के मध्य में संकेंद्रित करना है क्योंकि वहाँ सबसे ज़्यादा उजाला होना चाहिए, जैसा कि खुद प्रकृति में भी होता है। प्रकृति में क्षितिज और उससे ऊपर की हवा सबसे अधिक प्रकाशमान होती है।' इसी प्रकार संशोधित रंगशाला के लिए तैयार की गयी एक परियोजना (1813) में, शिंकेल ने एक ऐसे सेट का प्रस्ताव रखा जिसमें बाजुओं और किनारों की बजाय एकल, पैनोरमा (रंगपटल) जैसी पृष्ठभूमि हो। कैस्पर डेविड फ़्रेडरिक की तरह उनके विचारों में भी ताज़गी का आभास होता था। स्वाभाविक ही था कि इसमें रौशनी ऊपर से आती: 'ऊपर से आने वाली रौशनी का इस्तेमाल करके... पूरे मंच को काफ़ी हल्का बनाना मुमकिन है, वह भी उन निचले हिस्सों पर बहुत ज़्यादा अहमियत दिए बिना जहाँ कि अभिनेता चलते हैं। इसके अलावा ऊपर से जो रौशनी गिरती है उसमें नीचे से उठने वाली रौशनी के मुक़ाबले ज़्यादा प्राकृतिक प्रभाव होता है।'

हालाँकि यह सही है कि शीर्ष लाइटिंग की सचमुच पर्याप्त मात्रा गैस और विद्युत प्रकाश के आगमन के साथ ही संभव हो पायी परन्तु जब कातेल और शिंकेल अपने इरादों को अमली जामा पहना रहे थे तब तक 1783 में विकसित किए गए अरगाँ लैम्प को ही इतना विकसित कर लिया गया था कि उससे

अच्छे-ख़ासे फ़ासले तक रौशनी प्राप्त की जा सकती थी।

असरदार होने के लिए शीर्ष लाइटिंग का ज़्यादा उज्जवल होना तो ज़रूरी था ही परन्तु साथ ही यह भी ज़रूरी था कि वह ज़्यादा सटीक ढंग से एक ख़ास बिंदु पर केंद्रित हो। लौ की रौशनी क़ुदरती तौर पर ही ऊपर की तरफ़ और बग़ल में फैलती है। शायद ही कोई हिस्सा नीचे की तरफ़ जाता है। प्रकाश को इस भौतिक रूप से 'अप्राकृतिक' दिशा में केंद्रित करने के लिए परावर्तक का कृत्रिम हस्तक्षेप लाज़िमी था। शिंकेल और कातेल की ही तरह थिएटर की दुनिया की एक और प्रख्यात फ़्रांसीसी शख़्सियत ग्रोबेएर का विचार था कि शीर्ष लाइटिंग ही लाइटिंग का एकमात्र प्राकृतिक स्वरूप था और यह एक ऐसा उद्देश्य था जिसको हर संभव साधन के ज़रिए साधने की कोशिश की जानी चाहिए थी। वह ऐसी रौशनी पैदा करना चाहते थे 'जिसकी चकाचौंध में अभिनेता हर क्षण दृश्यमान रहें' और इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित तरीक़ा सुझाया: 'विशाल आइनों और सही जगह रखे गए परावर्तकों के ज़रिए यह प्रभाव प्राप्त किया जा सकता है। इस काम के लिए विस्तृत अध्ययन और काफ़ी प्रयोग किए जाने चाहिएँ।'

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में परावर्तक न केवल रंगशाला में बल्कि सड़कों पर भी प्रकाश प्रौद्योगिकी का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गए।

अठारहवीं सदी के परावर्तक की ख़ास बात उसकी अवतल बनावट थी जिससे वह स्वच्छंद रूप से बिखरी रौशनी को संग्रहित, केंद्रित और संकेंद्रित–दूसरे शब्दों में 'अनुशासित'–कर सकता था। लाव्आज़ियेर ने सड़क प्रकाश और रंगशाला की रंग-प्रकाश व्यवस्था के सिलसिले में प्रकाश के सिद्धांत पर जो दो प्रयोग किए थे, परावर्तक उन दोनों के केंद्र में था। सड़क प्रकाश से संबंधित प्रयोग में उन्होंने परावर्तक को इस प्रकार परिभाषित किया था: 'धातु का एक ऐसा अवतल आइना जो ऐसी जगह स्थित हो जहाँ से वह अन्यथा नष्ट हो जाने वाली रौशनी को संग्रहित कर ले और जो उसे मंच या किसी अन्य वस्तु पर केंद्रित कर दे। इस प्रकार पूरी उत्सर्जित रौशनी को उस वस्तु के लिए उपलब्ध कराया जा सकता है जिसको रौशन किया जाना है और प्रकाश का लेशमात्र भी भाग नहीं पाएगा'। रंगशाला के भीतर लाइटिंग को सुधारने के सिलसिले में उन्होंने जो प्रस्ताव रखा था उसमें वह लिखते हैं: 'परावर्तक सामान्य रूप से वृथा बिखर जाने वाली रौशनी को वस्तु विशेष पर केंद्रित करने वाले एक धात्विक आइने के अलावा कुछ नहीं है।' पहचान में आने वाली पहली स्पॉटलाइट वस्तुत: तेल के दिए के इर्द-गिर्द अवतल परावर्तक के द्वारा संकेंद्रित व निर्देशित रौशनी ही था। विद्युत प्रकाश के आने के साथ यह स्टेज लाइटिंग का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी। परन्तु विद्युत स्पॉट लाइट के पूरी तरह विकसित होने से भी पहले लोगबाग पेंटिंगों की तरह मंच पर भी प्रकाश और छाया के वातावरणीय वितरण की कल्पना करने लगे थे। अठारहवीं सदी में अवतल परावर्तकों के हिमायतियों ने स्पष्ट रूप से कहा कि उनका उद्देश्य केंद्रित और निर्देशित प्रकाश को

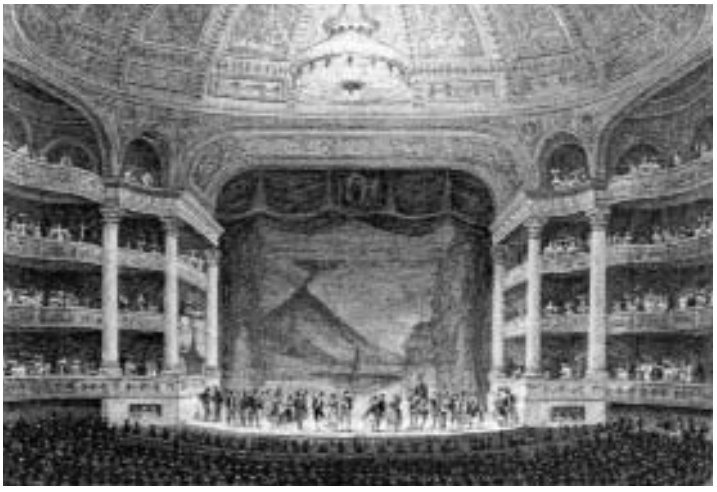

बेहद विविध प्रभाव पैदा करने के लिए एक कूची की तरह इस्तेमाल करना है। मिसाल के तौर पर लाव्आज़ियेर ने लिखा कि: 'आप वाक़ई दिन की अलग-अलग दशाओं और क्षणों को प्रतिबिंबित कर सकते हैं। आप तेज़ धूप, धूल भरी आँधी के अंधियारे, सूर्योदय या सूर्यास्त, रात्रिकाल, और पूरे खिले चांद इन सबको आभास करा सकते हैं। यह सब कुछ मंच के अगले हिस्से के ऊपरी छोर पर स्थित परवलयिक या सरल गोलाकार परावर्तकों की सहायता से बड़ी आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।' लाव्आज़ियेर के एक समकालीन, वास्तुशिल्पी पिएरे पात्त की भी कुछ ऐसी ही सोच थी। (संदर्भवश, उन्होंने सड़क प्रकाश में सुधार के लिए भी एक सुझाव पेश किया था।) परावर्तकों के बारे में उन्होंने कहा कि 'इस तरीक़े से हमारी लाइटिंग इतनी बढ़िया हो जाएगी' कि:

> दृश्य के कुछ ख़ास हिस्सों पर रौशनी फेंक कर कई बार आप दर्शक की आँखों को मोहने वाली कोमलता और लय पैदा करने के लिए रंगों की चमक को कम कर देंगे, कई बार आप मंच पर उजाले और छायाओं के ऐसे विलोम रचेंगे जो महान चित्रकारों की पेंटिंगों में दिखायी देते हैं और सजावट में स्पष्टता और धुंधलेपन के चटकीले प्रभाव पैदा कर लेंगे।

पात परावर्तकों की निहित संभावनाओं को चिह्नित करने के मामले में पात्त अपने समय से कोसों आगे थे। उन्होंने न केवल ऊपर और पार्श्व से मंच पर पड़ने वाली रौशनी का पूर्वाभास कर लिया बल्कि उन्होंने अग्रभाग से पड़ने वाली रौशनी को भी चिह्नित कर डाला। यह एक ऐसी चीज़ थी जो विद्युतीय स्पॉटलाइट के साथ ही वजूद में आ पायी।

हद से हद सन् 1800 तक क़ुदरती प्रकाश ने मंच पर विजय प्राप्त कर ली। यह कई अर्थों में 'क़ुदरती' थी: सबसे पहली बात तो यह कि ये वाक़ई रौशनी थी न कि रंगे-पुते सेटों द्वारा पैदा किया गया कोई कृत्रिम प्रभाव : दूसरे, यह नीचे की बजाय ऊपर से आने वाली रौशनी थी; और अंत में उस सामान्य अर्थ में भी, जिसका इस्तेमाल उस समय चित्रकारों का बुर्जुआ भ्रांतिवादी आंदोलन कर रहा था। ये चित्रकार नैसर्गिक रौशनी से उत्पन्न भाव पैदा करने के पक्ष में थे न कि ज्यामितीय पर्स्पेक्टिव को आलोकित करने के।

अठारहवीं सदी के अंतिम और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में थिएटर सुधारकों ने जो सुझाव पेश किए वे अल्गारोत्ती और नोवेरे के मतानुसार रौशनी के ज़्यादा रंगीन इस्तेमाल जैसी माँगों से इस अर्थ में बहुत परे तक जाते थे कि उन्हें महज़ सौंदर्यबोध के लिहाज़ से ही नहीं बल्कि बेहद सटीक तकनीकी शब्दों में भी अभिव्यक्त किया जा रहा था। पात्त, शिंकेल, कातेल और लाव्आज़ियेर के विचार इतने तफ़्सील में थे कि उन्हें अमल में लाने के लिए ज़रूरत थी तो सिर्फ़ रौशनी के एक बढ़िया स्रोत की। जब प्रकाश प्रौद्योगिकी गैस और बिजली की सहायता से उन्नीसवीं सदी में काफ़ी लंबा सफ़र तय कर चुकी तो इन विचारों को बिना किसी हील-हुज्जत के साकार कर लिया गया। अब पूरे मंच को रौशन कर दिया गया और वे हिस्से भी उजाले में आ गए जो अब तक नीम-रौशन दिखायी देते थे। फ़ुटलाइटिंग कोई सौंदर्यात्मक समस्या नहीं रही। 1817 में लंदन के एक थिएटर में शीर्ष लाइटिंग के लिए गैस के पहले-पहल इस्तेमाल के बारे में लिखी गयी एक रिपोर्ट में उल्लेख मिलता है, 'मंच पर एक बेहद दोस्ताना और असरदार रौशनी ... एक भयानक शैतान यानी, फ़ुटलाइटों से पैदा होने वाली अप्राकृतिक और उल्टी रौशनी को ठिकाने लगाती प्रतीत होती है।' सन् 1800 के आस-पास सैद्धांतिक दृष्टि से नयी लाइटिंग का पूर्वाभास करना तो एक बात थी परन्तु तकनीकी लिहाज़ से उसे लागू करना एक बिल्कुल अलग बात थी। जब मंच पर तेज़ रौशनी की और सघन मात्रा पड़ने लगी तो मंच इस हमले की मार से मानो चरमरा गया। नयी रौशनी ने भ्रम पैदा करने के तमाम पुराने तरीक़ों को बेरहमी से उजागर कर दिया। 1880 के दशक में पॉल लिंडाऊ ने विद्युतीय चाप प्रकाश से पैदा होने वाली छवि के बारे में जो

कुछ कहा था वह प्रारंभिक गैस लाइटिंग के बारे में भी उतना ही सही था: 'अप्रत्याशित रूप से तेज़ और सघन रौशनी ... आस-पास के तमाम रंगों को धो डालती है और क्योंकि नाट्य उपकरण तेज़ रौशनी में निमर्म रूप से प्रत्यक्ष दिखायी देने लगते हैं चुनाँचे यह तमाम भ्रम को नष्ट कर देती है। देखने वाले को पेड़ की जगह एक रंगी हुई कैनवस और आसमान की जगह पाल का कपड़ा दिखायी देता है।' मई 1883 में जब विएना कोर्ट ऑपेरा ने विद्युतीय प्रकाश को प्रयोगात्मक रूप से इस्तेमाल किया तो न्यू फ़्रीये प्रैसे के संवाददाता ने टिप्पणी की कि 'तकनीकी दृष्टि से उच्च स्तर पर निर्मित किए गए' सेट्स को अभी भी प्रयोग में रखा जा सकता था

> जबकि महज़ रंगे-पुते या प्रभावहीन सेट्स विद्युतीय प्रकाश की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते ...। तेज़ रौशनी में तमाम दुर्गुण और त्रुटियाँ साफ़ दिखायी पड़ जाती हैं ...। मिसाल के तौर पर, आज पृष्ठभूमि में लटका वह कपड़ा बेहद मामूली दिखायी दे रहा था जिससे तमाम डालियाँ, तोरण और गहने लटके हुए थे क्योंकि विद्युतीय प्रकाश ने उसकी बनावट, उसकी निर्जीव भौतिकता और तमाम ज़रूरी तकनीकी साज़-ओ-सामान को एकदम उघाड़ कर रख दिया।

क्योंकि नयी रौशनी ने रंगे हुए सेट्स से पैदा होने वाले भ्रम को समाप्त कर दिया इसलिए अब नए नुस्खों की तलाश ज़रूरी थी। उन्हें विद्युतीय प्रकाश के असर को भी झेलना था और इससे भी बढ़कर, उसके उजाले में ख़ास तौर से यथार्थ जैसा दिखायी देना था। रंगे हुए सेट की जगह क़ुदरती दिखने वाली त्रिआयामी संरचनाओं ने ले ली जो विद्युतीय स्पॉटलाइट की 'प्राकृतिकता' से मेल खाती थीं। गैस और विद्युतीय प्रकाश में रंग भी मोमबत्ती या तेल के दियों की रौशनी में दिखने वाले रंगों से अलग दिखने लगे और अब उन्हें आमूल-चूल रूप से बदला जाना था। विद्युतीय प्रकाश के साथ विएना ऑपेरा के प्रयोग में गायकों के चेहरे पारंपरिक ढंग से – यानी गैसबत्ती को ध्यान में रखकर – बनाए गए थे चुनाँचे बेहद ज़र्द दिखायी देने लगे। निष्कर्ष ये निकला कि 'विद्युतीय प्रकाश के अंदर गैसबत्ती वाला ही प्रभाव प्राप्त करने के लिए लाल रंग का और ज़्यादा इस्तेमाल करना पड़ेगा'। मगर विद्युतीय प्रकाश में रंग सिर्फ़ हल्के ही नहीं पड़े। 'कुछ ज़्यादा स्निग्ध, समृद्ध रंग, जैसे हल्का हरा, बैंगनी और लाल, बहुत ज़्यादा चटक दिखायी देने लगे ...। गैसबत्ती के मुक़ाबले केवल शांत, लयात्मक रूप से समंजित रंग ही बेहतर दिखायी पड़ते थे।' परेशान करने वाले प्रभावों से बचने के लिए रंगों को नए प्रकाश की सघनता के अनुरूप ढालना ज़रूरी था। यानी ज़रूरत के हिसाब से ज़्यादा शोख़, या गहरा या ज़्यादा शांत बनाना ज़रूरी था। आम रुझान 'गहरे, स्याह, ज़्यादा संपृक्त' वर्णों की तरफ़ केंद्रित था। बहुत पहले, 1827 की एक टिप्पणी में कहा गया कि 'चूँकि हमारे थिएटरों में गैस देर से आयी इसलिए अब पहले की तुलना में ज़्यादा शक्तिशाली वर्ण-विन्यास ज़रूरी हो गया।'

गहरे वर्ण सौंदर्यात्मक भ्रम को संपूर्णता देने में मदद देते थे। पहली बार मंच पर इस्तेमाल होने वाले रंगों को लाइटिंग में मदद देने वाले साधन की उनकी पुरानी भूमिका से आज़ाद कर दिया गया क्योंकि पहले उसमें और ज़्यादा चमक की ज़रूरत रहती थी। क्योंकि गहरे रंग बहुत सारी बेशक़ीमती रौशनी को जज़्ब कर लेते थे इसलिए मंच को रंगने वाले उन्हें इस्तेमाल नहीं कर पाते थे, यहाँ तक कि जब सौंदर्यात्मक और यथार्थपरक दृश्य विन्यास को देखते हुए उनकी ज़रूरत होती थी, तब भी। इसमें अभिनेताओं के वेशभूषा के रंग एक बढ़िया मिसाल हैं। अठारहवीं सदी में स्टेज सेट्स की तरह वेशभूषा भी हल्के और चमकदार रंगों से बनाए जाते थे। यदि एक उदाहरण लें तो, इससे दिदेरो के सौंदर्यबोध को चोट पहुँची थी। वह चाहते थे कि बुर्जुआ ड्रामा बुर्जुआ रंगों, यानी एकरूप गहरे रंगों में ही खेला जाए जो उन्हें अभिजात्य वर्ग के रंग-बिरंगे, मोरनुमा प्रदर्शन से स्पष्ट रूप से अलग खड़ा कर देते थे। दिदेरो की शिकायत थी कि 'वैभव हर चीज़ को ग़र्क़ कर देता है, वैभव का ड्रामा ख़ूबसूरत नहीं होता। वैभव ... आँखों को चौंधिया तो सकता है मगर हृदय को नहीं छू सकता ...। नाटक जितना ही गंभीर

होगा उसकी वेश-सज्जा उतनी ही आडम्बरहीन होनी चाहिएँ...। हमें दुस्साहसी रंगों में रंगे ख़ूबसूरत, सादा कपड़ों की ज़रूरत है।' जिस तरह अल्गारोत्ती और नोवेरे ने स्टेज लाइटिंग के लिए डच पेंटिंग को एक मॉडल के तौर पर सामने रखा उसी तरह दिदेरो ने सुझाव दिया कि वेश-सज्जा के मामले में भी अभिनेता पेंटिंगों से प्रेरणा लें। संभवत: वह पेंटिंगों में गहरे रंग के सूटों में सजे-धजे डच निवासियों के बारे में सोच रहे थे। 'अभिनेताओं! झूठे वैभव को एक तरफ़ रख कर यदि तुम कपड़े पहनने का सही सलीका सीखना चाहते हो और वह सादगी पाना चाहते हो जो तुम्हें सबसे प्रभावी छवि प्रदान कर दे तो हमारी कला दीर्घाओं में आओ।' जैसे उन्होंने मंच के अगले भाग में जगह के लिए गुत्थमगुत्था होते अभिनेताओं की आलोचना की थी उसी प्रकार यहाँ भी दिदेरो ने प्रकाश प्रौद्योगिकी द्वारा अनिवार्य बना दी गयी एक पद्धति को अप्राकृतिक और अस्वाभाविक कहकर ख़ारिज कर दिया। जब पूरे मंच को रौशन किया जा सकता था उस उन्नीसवीं सदी से पहले तक कॉस्ट्यूम और स्टेज सेट्स का रंग उतना ही गहरा होता चला गया जितना रंगों की बुर्जुआ अभिरुचि की माँग थी। तब तक कोई भी अभिनेता नीम अँधेरे में ओझल हो जाने का जोखिम उठाए बिना न तो मंच के अगले हिस्से को छोड़कर कहीं जा सकता था और न पूरे मंच पर स्वच्छंद रूप से घूम सकता था।

उन्नीसवीं सदी में नए क़िस्म की रौशनी के साथ मंच धीरे-धीरे रूपांतरित होता चला गया। उसने नयी चुनौतियाँ उठाते हुए सामने मौजूद नयी संभावनाओं का सदुपयोग किया। सचमुच की रौशनी ने पुराने क़िस्म की भ्रम पैदा करने वाली मंच रंगसाज़ी को समाप्त कर दिया।

मंच रंग सज्जा पर सबसे भारी हमला उसी जगह हुआ जहाँ वह सबसे कमज़ोर थी, यानी रौशनी के प्रस्तुतीकरण में। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में रौशनी के रंगदार शहतीर, रंगी हुई परछाइयाँ और रंगे हुए सूर्योदय और सूर्यास्त वास्तविक रौशनी के अभाव की पूर्ति करते थे। उन्हें इसलिए स्वाभाविक मान लिया गया था क्योंकि इन छटाओं को साकार करने का और कोई भौतिक साधन नहीं था। बाउमन के मुताबिक़: 'लैंडस्केप का माहौल और इसकी ख़ास आउटडोर रौशनी सिर्फ़ और सिर्फ़ पेंटिंग के ज़रिए हासिल की जा सकती थी।' जैसे ही अरगाँ लैम्प ने मंच पर प्रकाश का पहला सक्षम स्रोत उपलब्ध करा दिया वह रंगी हुई रौशनी के लिए एक भयानक शत्रु साबित हुआ। प्यूजॉक्स ने इन दो क़िस्म की रौशनियों के बीच होने वाले टकराव का बड़ा आकर्षक विवरण दिया है: यदि दृश्य सज्जा रंगसाज़ ने सेट्स पर छायाएँ और अर्धछायाएँ अंकित की हैं और बाजुओं में अरगाँ लैम्प को स्थापित करने वाला रौशनीसाज़ उन्हें छायाओं के साथ सटीक ढंग से नहीं मिला पाता है तो इसका मतलब है कि लाइटिंग करने वाले और पेंटिंग करने वाले दोनों व्यक्तियों की सोच में टकराव है।'

रौशनी को चित्रांकित करने के अधिकार को खो देना मंच चित्रकार की पहली हार थी। नयी प्रकाश व्यवस्था के सामने भ्रम पैदा करने वाले दूसरे तरीक़े भी नहीं टिक पाए। साधारण शब्दों में कहें तो रंगे हुए सेट्स के स्थान पर उन्नीसवीं सदी में त्रिआयामी सेट्स के धीरे-धीरे पैर जमा लेने को कलाओं में अधिकाधिक प्रकृतिवाद की तरफ़ बढ़ते रुझान से समझा जा सकता है। परन्तु यहाँ बदलाव की बागडोर लाइटिंग ने संभाली हुई थी और वह इस प्रक्रिया में एक यथार्थ और संभवत: निर्णायक भूमिका निभा रही थी। मंच पर सचमुच की रौशनी के लिए महज़ रंगे पुते की बजाय सचमुच के स्थान की ज़रूरत थी। अंत में विद्युतीय प्रकाश की सहायता से एडोल्फ़ एपिया ने थिएटर लाइटिंग के सिलसिले में अल्गारोत्ती, लाव्आज़ियेर और पात्त द्वारा उठायी गयी शताधिक माँगों को पूरा करने में कामयाबी पा ली। एपिया और उनके महज़ रंगे हुए नहीं बल्कि सजीव प्रकाश के साथ स्टेज लाइटिंग अपने आप में एक स्वतंत्र रचनात्मक माध्यम बन गया।

> एपिया की अहमियत ... उनकी इस समझ में निहित थी कि वह एक ऐसा 'स्पेस' या स्थान रच रहे थे जो प्रकाश से सक्रिय हो उठता था। प्रदर्शन परिधि और प्रकाश,

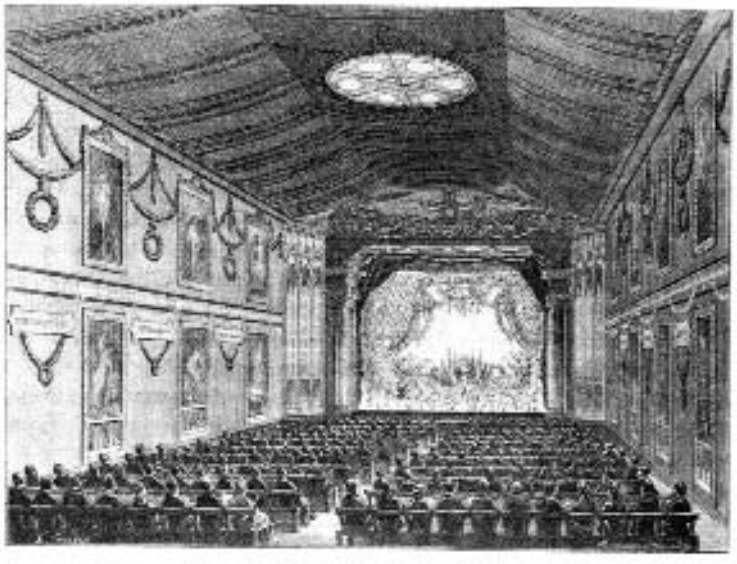

निर्माण के नए तत्त्वों के रूप में एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, क्योंकि (सक्रिय) प्रकाश केवल एक ऐसी मुक्त परिधि में ही विकसित हो सकता है जो कि रंगे हुए सेट्स के द्वारा 'नष्ट' और गड्ड-मड्ड न हो। परन्तु स्थान केवल तभी 'स्थानिक' बन पाता है जब उसमें प्रकाश (और वर्ण) 'सक्रिय' होते हैं। अभिनेताओं की त्रिआयामिकता, जिनका प्रभाव रंगे हुए सेट्स के असर से भी कम नहीं हुआ था और जिन्होंने आगे चलकर रंगाई के प्रभाव को भी नष्ट कर दिया, अब उस मुक्त क्षेत्र और परिधि के कंट्रास्ट में नहीं रही जिसे वह आकार दे रही थी; प्रकाश और छाया अभिनेता को उसकी 'मंचन परिधि' के साथ जोड़ देते हैं।'

अंधाकारमय प्रेक्षागृह

मुझे फ़ौरन ही एक बहुत स्पष्ट नुक़्स दिखायी दे गया। स्टेज लाइटिंग और प्रेक्षागृह की लाइटिंग बिल्कुल बेमेल थी। मंच की लाइट बहुत ज़्यादा कमज़ोर थी और प्रेक्षागृह की लाइट बहुत तेज़। अगर स्थिति इसके विपरीत होती तो चीज़ें ज़्यादा बेहतर और सही दिखायी देतीं। यह बेमेलपन इस तथ्य से उपजा है कि प्रेक्षागृह की रौशनी के लिए तो दरबार से पैसा आता है जबकि मंच की रौशनी के लिए रंगशाला के प्रबंधकों को ख़ुद इंतज़ाम करना पड़ता है।

(आउगुस्ट क्लिंगऽमन, कुंस्ट उण्ड नाटुअर, 1823)

जहाँ एक तरफ़ नयी समझ और नयी प्रकाश प्रौद्योगिकी स्टेज को रूपांतरित करती जा रही थी वहीं दूसरी तरफ़ रंगशाला के बाक़ी आधे हिस्से में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण कायांतरण चल रहा था। अठारहवीं सदी को बैरॉक् थिएटर से जो प्रेक्षागृह विरासत में मिला था वह एक सामाजिक, उत्सवपूर्ण केंद्र ज़्यादा था और सही मायने में प्रेक्षागृह कम। वहाँ जो दर्शक इकट्ठा होते थे वह इस बात पर ध्यान देने के लिए नहीं आते थे कि मंच पर क्या होता है बल्कि वे दो स्तर पर हिस्सेदारी करने आते थे। मंच की टक्कर का प्रदर्शन दर्शकों के बीच भी चलता रहता था। सत्रहवीं सदी की सोच में ज़िन्दगी ख़ुद भी एक सर्वव्याप्त रंगमंच थी। इसलिए यह तर्कसंगत ही है कि थिएटर में एकसमान महत्त्व के दो अलग-अलग

प्रदर्शन क्षेत्र थे: मंच और प्रेक्षागृह। बैरॉक़ कालीन दरबारी त्यौहारों – जलसों, बैले नृत्य, आतिशबाज़ियों और रौशनियों – की तरह यहाँ भी अभिनेताओं और दर्शकों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी। सब कुछ उलझने-सुलझने का खेल था। भूमिकाएँ बदल गयी थीं और आपस में गुथ गयी थीं तथा यथार्थ की सँकरी सीमाएँ समकालीन शीशमहल के आइनों की मानिंद टूट चुकी थीं। रौशनी ने मंच और प्रेक्षागृह दोनों को समान रूप से प्रकाशमान बनाकर अपना योगदान दे दिया। इसमें मंच रौशनी की एक लकीर के ज़रिए ही एक प्रदर्शन परिधि के रूप में अलग प्रतीत होता था। बैरॉक़ में लाइटिंग के समरस स्वरूप को सबसे स्पष्ट रूप से इस तथ्य से समझा जा सकता है कि झाड़-फ़ानूस से प्रेक्षागृह और मंच दोनों जगह सजावट और रौशनी की जाती थी। सत्रहवीं सदी के दर्शकों को मंच पर लगे झाड़-फ़ानूसों से उसी तरह कोई परेशानी नहीं थी जैसे किसी नाटक के मंचन के दौरान बत्ती को कतरने वाले लोग बेझिझक अपना काम करते रहते थे। जो चीज़ें कुछ ही समय बाद भ्रम को नष्ट करने वाली और इसलिए अस्वीकार्य मानी जाने लगीं वे उस समय बैरॉक़ थिएटर में मंचन का एक सामान्य हिस्सा थीं। 'फ़्रांस में मूषर ऐसे लोकप्रिय व्यक्ति थे जिनकी मौजूदगी का स्वागत किया जाता था। यदि वे अपने काम को एहतियात और नफ़ासत के साथ अंजाम देते थे तो दर्शक तालियों की गड़गड़ाहट या तारीफ़ के शब्दों से उनकी हौसलाअफ़ज़ाई भी किया करते थे।'

अठारहवीं सदी के मध्य के आस-पास दर्शकों को ऐसा लगने लगा कि मंच और प्रेक्षागृह के बीच यह संचार सौंदर्यात्मक और नैतिक दृष्टि से खिन्न करने वाला है। दोनों के बीच एक स्पष्ट रेखा खींच दी गयी। बैरॉक़ थिएटर में सीढ़ियाँ ही मंच को प्रेक्षागृह के साथ जोड़ती थीं और अभिनेता भी अकसर वहीं से मंच पर दाखिल होते थे। अब वे सीढ़ियाँ ग़ायब हो गयीं, और दर्शकों की सीटें, जो अब तक मंच पर ही होती थीं, को भी हटा कर दूर कर दिया गया। मंच पर मौजूद झाड़-फ़ानूसों की भी गद्दी छीन ली गयी क्योंकि अब इसे सौंदर्यात्मक भ्रम पैदा करने के लिए एक स्वायत्त परिधि के रूप में देखा जाने लगा जिसे सख़्ती से दर्शकों से अलग रखा जाना था। कॉमेदी फ़्राँसेज़ थिएटर में, सीटों और झाड़-फ़ानूसों को 1757 में मंच से बेदख़ल कर दिया गया। इसके बाद उनका इस्तेमाल केवल मंच सामग्री के रूप में ही होने लगा।

झाड़-फ़ानूस के न होने का मतलब यह नहीं था कि अब मंच पर कम उजाला रह गया। इसके विपरीत पूरी अठारहवीं सदी के दौरान मुख्य रुझान ज़्यादा रौशन मंच और अँधेरे में डूबे प्रेक्षागृह की तरफ़ ही रहा। अठारहवीं सदी की शुरुआत में कॉमेदी फ़्राँसेज़ थिएटर का प्रेक्षागृह 136 मोमबत्तियों वाले 12 झाड़-फ़ानूसों से रौशन होता था। पचास साल बाद, मंच से झाड़-फ़ानूसों के ग़ायब हो जाने से ठीक पहले वहाँ केवल चार झाड़-फ़ानूस बचे थे और उनमें अड़तालीस मोमबत्तियाँ थीं। यानी अब पहले के मुक़ाबले मात्र एक तिहाई रौशनी से काम चल रहा था। मंच के पार्श्व भाग में लगी मोमबत्तियों की संख्या जो सन् 1719 में अड़तालीस थी वह सन् 1757 में बढ़ कर 116 हो गयी। इसके अलावा परावर्तक लैम्प होते थे जो अठारहवीं सदी के शुरू में कहीं थे ही नही। 1750 के दशक तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रकाश का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत बन चुके थे।

यह बात लंबे समय से ज्ञात थी कि किसी तस्वीर की रौशनी जितनी चटक होगी और जहाँ से उसे देखा जा रहा है वह जगह जितनी अँधेरे में होगी तस्वीर उतनी ही विशिष्ट दिखायी देगी। थिएटर के

पुनर्जागरणकालीन सिद्धांतकार इस अंतर्दृष्टि का पहले ही प्रयोग कर चुके थे। मसलन, डि सॉमी ने सुझाव दिया था कि दर्शक को छाया में बिठाया जाए 'क्योंकि ऐसे में दृष्टि ज़्यादा सीधी जाती है और उसकी आँखें लक्ष्य से नहीं भटकतीं, या परिभ्रामी सिद्धांत के अनुसार लक्ष्य ख़ुद उसकी नज़रों में गड़ जाता है।' और इंगेग्नेरी ने तो यह सामान्य नियम ही ईजाद कर दिया: 'प्रेक्षागृह में जितना अँधेरा होगा, मंच उतना ही रौशन दिखायी देगा।'

परंतु इस समझ ने पुनर्जागरण और बैरॉक़ थिएटर पर कोई बहुत व्यावहारिक असर नहीं डाला। रंगशाला की सामाजिक भूमिका एक तेज़ रौशन प्रेक्षागृह का तक़ाज़ा करती थी। संपूर्ण अठारहवीं सदी के दौरान प्रेक्षागृह शनैः शनैः अँधेरे में डूबता गया और मंच पर रौशनी बढ़ती गयी। यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि थिएटर की सामाजिक, सौंदर्यात्मक एवं नैतिक भूमिका में बदलाव आ रहा था। प्रेक्षागृह में इकट्ठा होने वाले दर्शक अब अपना पूरा ध्यान मंच पर केंद्रित करने लगे थे। सारतः अब कोई 'एक दर्शक समूह' नहीं बल्कि बहुत सारे व्यक्ति थे जिनमें से हर व्यक्ति ड्रामे को अपनी अपनी नज़र से सिर्फ़ अपने लिए देखता था। नया आदर्श यह था कि दर्शक, और जो चीज़ उसके सामने पेश की जा रही थी, उन दोनों के बीच एक प्रत्यक्ष संचार स्थापित किया जाए और उसमें से तमाम भटकाने वाले और बाहरी कारकों को बेदख़ल कर दिया जाए। प्रेक्षागृह में अँधेरा करने की यह सोच दर्शकों और नाटक के बीच सामुदायिकता की इस भावना को और मज़बूत करने की थी। ब्रेष्त के मुताबिक़ यह पिछले दो सौ वर्षों के दौरान थिएटर के विकास का सार-संक्षेप है। परन्तु पास से देखने पर पता चलता है कि कहानी दरअसल इतनी सरल और सीधी नहीं है जितनी इस उक्ति में प्रतीत होती है। प्रेक्षागृह को तमसोगमय यानी अँधेरा करने की प्रक्रिया धीमी थी। यह रुक-रुक कर आगे बढ़ी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि ये प्रक्रिया कभी पूरी नहीं हुई। बहरहाल, जो भी हो, जैसा कि इतालवी रंगमंच की सबसे बेजोड़ उपलब्धि, ऑपेरा, को देखने पर पता चलता है – बतौर संस्था थिएटर अपनी ख़ुद की ही आभा से दीपित है।

ऑपेरा को देखकर पता चलता है कि अंधियारे में डूबा प्रेक्षागृह लाज़िमी तौर पर यथार्थवाद और भ्रम के सौंदर्यबोध के अनुरूप हो ऐसा ज़रूरी नहीं है। इतालवी ऑपेरा में प्रेक्षागृह में अँधेरा रखने का

चलन सत्रहवीं शताब्दी से क़ायम था जबकि बाक़ी युरोपीय रंगशालाओं में इसे काफ़ी बाद में अपनाया गया। इसके बावजूद इतालवी दर्शक चाहे जैसे भी रहे हों परन्तु अनुशासित कलाप्रेमी तो क़तई नहीं थे। वे भी ऑपेरा को उसी तरह बेमन से देखते थे जैसे पेरिस, लंदन और विएना के लोग देखा करते थे क्योंकि उनकी तरह इतालवी दर्शक भी खुद को प्रदर्शन का हिस्सा बना देते थे। अँधकारमय प्रेक्षागृह में भी वह ऐसा कर लेते थे इसकी वजह यह है कि इतालवी ऑपेरा में प्रेक्षागृह दरअसल वैसा नहीं था जैसा वह दिखायी देता था यानी वह एक संक्रमणकारी दायरा था। असली प्रेक्षागृह तो अनगिनत ख़ानों में बँटा होता था – जोकि मूलरूप से इतालवी यानी वेनिस की पैदाइश थी:

> प्रेक्षागृह ठोस बग़ली दीवारों से बँटे हुए ख़ानों का समूह होता था। एक तरह से ये तीन दीवारों वाले कमरे थे और अगर प्रेक्षागृह वाले चाहें तो चौथी तरफ़ भी एक शटर होता था जिसे प्रेक्षागृह की तरफ़ बंद किया जा सकता था। ये ख़ाने दरअसल एक के ऊपर एक रखे हुए अलगाए जाने लायक घरनुमा थे। प्रत्येक परिवार को अपना एक अलग कक्ष मिल जाता था जो श्रृंगार कक्ष की तरह उसमें बैठने वालों की सुरुचि के अनुसार वॉलपेपर, पेंटिंग, आइनों, छोटी मेज़-कुर्सियों, दीवान, और संभवत: द्यूत टेबलों से भी लैस होता था। लोग बातें करते थे, खाना-पीना करते थे, ताश खेलते थे और एक-दूसरे से मिलते-जुलते थे।

इतालवी दर्शक भी मंच पर हो रही सरगर्मियों से उतने ही बेलौस रहते थे जितना दूसरे युरोपीय दर्शक रहते थे। फ़र्क़ अगर था तो सिर्फ़ इस बात का कि समाज के बारे में इतालवी दर्शकों का नज़रिया छोटे-छोटे अनगिनत कमरों में साकार होता था। इटली में मंच के सामने की जगह में कोई ऐसा ऑडिटोरियम नहीं होता था जिसे सौंदर्यात्मक पसंद के चलते अँधेरा किया जाता था बल्कि यह तेज़ उजाले में डूबे मंच और उतने ही रौशन खानों के बीच फैली अपरिभाषित सी स्याह मध्यभूमि था। परन्तु इस तथ्य से मामला और जटिल हो जाता है कि यह जगह भी थी प्रेक्षागृह ही क्योंकि निम्न वर्ग के लोग इसी जगह तो बैठा करते थे। परन्तु वह 'समाज' का हिस्सा नहीं थे और उनके अपने तौर-तरीक़े और व्यवहार थे। यहाँ अँधेरे से एकाग्रता या ख़ामोशी को बढ़ाने में कोई मदद नहीं मिलती थी। इसके विपरीत, 'प्रेक्षागृह के नीम अँधेरे ने बीच की गर्त में व्यवस्था स्थापित करने में कोई योगदान नहीं दिया। जैसा कि स्वाभाविक ही है इस गर्त के दर्शकों में वेनिस के मछुआरे और दूसरे लोग बैठते थे ...। विदेशी सैलानी इस गर्त के भीतर की ज़िन्दगी को देखकर अचंभे में पड़ जाते थे: कैसी आज़ादी थी वहाँ, लोग ज़ोर-ज़ोर से बातें और हुल्लड़-हंगामा करते थे और वहीं पर फल, आदि, खाने पीने की चीज़ें भी बिकती रहती थीं।'

यह सही है कि फ़्रांसीसी, इंग्लिश और मध्य युरोपीय रंगशालाओं में जैसे प्रेक्षागृह शनै: शनै: अँधेरे में डूबते गए वैसे-वैसे दर्शकों की एकाग्रता में भी वृद्धि हुई। प्रेक्षागृह का अंधकार भ्रमवाद के स्तर का एक विश्वसनीय पैमाना तो था परन्तु प्रेक्षागृह में अँधेरा करने का चलन बेहद धीरे-धीरे और भारी विरोध से जूझते हुए आगे बढ़ा। 1793 में वैटेलेट-लेवेक़ ने टिप्पणी की कि दर्शक 'मंच को देखना चाहते थे, अभिनेताओं को देखना चाहते थे; परन्तु सबसे बढ़कर, वे एक-दूसरे को देखना चाहते थे और, हम कह सकते हैं कि वे एक-दूसरे को जी भरकर देखना चाहते थे।' और 1809 में ग्रोबेएर ने लिखा: 'मुझे नहीं लगता कि यदि मंच की बजाय प्रेक्षागृह में रौशनी करने वाले झाड़-फ़ानूसों को हटा दिया जाए तो एक भी कलाकार को इससे ऐतराज़ होगा। मगर हर शख़्स इस उपयोगी सुधार का यह कहकर विरोध करता है कि औरतें चाहती हैं कि लोग उन्हें देखें और जनता उन्हें देखना चाहती है।'

थिएटर सुधारकों ने प्रेक्षागृह के लिए एक नयी प्रकाश व्यवस्था की भी वकालत की। इस सिलसिले में तीन प्रस्ताव पेश किए गए। पहली तजवीज़ तो ये थी कि प्रेक्षागृह की लाइटों को एक महीन स्क्रीन

के पीछे ढँक दिया जाए। यह ऐसी तकनीक थी जिसका विशेष लाइटिंग प्रभाव पैदा करने के लिए बैरॉक् थिएटर में पहले ही इस्तेमाल किया जा चुका था। प्यूजॉक्स का सुझाव इन पंक्तियों का अनुसरण करता है: 'प्रेक्षागृह की रौशनियों और मंच की ज़रूरतों से जो कठिनाई पैदा होती है उसे हल करने के लिए ये किया जा सकता है कि मंचन के दौरान झाड़-फ़ानूस को ढँक दिया जाए ताकि उससे केवल हल्की-सी रौशनी ही निकले। इस प्रकार मंच को उतनी रौशनी मिल जाएगी जितनी की उसे आवश्यकता है। मध्यांतर के दौरान झाड़-फ़ानूसों पर लगे परदों को एक बार फिर हटाया जा सकता है।' ग्रोबेएर का सुझाव था कि प्रेक्षाग्रह में चारों तरफ़ बिखरी लाइटों को ढँक दिया जाए और इसके लिए 'धातु के बने हुड का इस्तेमाल किया जाए ताकि वह उस लाइट को आंशिक रूप से या पूरी तरह ढँक ले। उन्हें इस तरह से लगाया जाए ताकि उनको ऊपर उठाने से रौशनी बढ़ जाए और नीचे करने से रौशनी घटने लगे।' प्रेक्षागृह की लाइटों को नियंत्रित करने का दूसरा तरीक़ा अठारहवीं सदी के आख़िरी सालों से ही आम इस्तेमाल में था। तरीक़ा यह था कि पूरे प्रेक्षागृह में केवल एक केंद्रीय झाड़-फ़ानूस लगाया जाए। मंचन की शुरुआत में उसे ऊपर उठा दिया जाता था जिससे अकसर वह छत में ओझल सा हो जाता था और मध्यांतर के दौरान उसे दोबारा नीचे कर दिया जाता था। तीसरा और अंतिम तरीक़ा यह था कि छत में लगे परावर्तक लैम्पों का प्रयोग किया जाए। पात, लाव्आज़ियेर और कोचिन जैसे अठारहवीं सदी के थिएटर-सुधारक, जो मंच के लिए शीर्ष लाइटिंग के भी हिमायती थे, ने इस तरह के लैम्पों के पक्ष में दलील दी। पर शीर्ष लाइटिंग की तरह ऐसे लैम्पों को भी तब तक क्रियान्वित नहीं किया जा सका जब तक उन्नीसवीं सदी में नयी प्रकाश प्रौद्योगिकी उपलब्ध नहीं हो गयी।

इन तमाम तरीक़ों का उद्देश्य प्रेक्षागृह में घुप्प अँधेरा कर देना नहीं था। सारी क़वायद अगर थी तो सिर्फ़ इसलिए कि रौशनी मद्धम हो जाए, बकौल पात्त, 'मृदुल और कोमल उजलापन' हासिल किया जा सके। बीच में लगे झाड़-फ़ानूस ने संभवत: ठीक वही संतुलन उपलब्ध करा दिया जिसकी ज़रूरत थी। एक तरफ़ तो इसने मंचन के दौरान आँखों से ओझल होकर और रौशनी की मात्रा कम करके भ्रम की ज़रूरत पूरी कर दी। दूसरी तरफ़ इसमें रंगशाला का उत्सवी चरित्र भी समाहित था। भ्रमवाद, यथार्थवाद और प्रकृतिवाद के बावजूद, देखने और देखे जाने की सामाजिक चाह थिएटर में आज भी क़ायम है। यहाँ तक कि जब गैस और विद्युतीय प्रकाश के आने के बाद प्रेक्षागृह में पूर्ण अंधकार करना संभव हो गया तब भी युरोपीय प्रेक्षागृह अँधेरे में नहीं डूबे बल्कि वहाँ मद्धिम रौशनी बनी रही। बहुत सारी रंगशालाओं में विद्युतीय प्रकाश प्रणाली मुहैया कराने वाले वर्नर सीमंस का ख़याल था कि जब परदा उठे तो 'प्रेक्षागृह में हल्की और मंच की तरह ललौंही रौशनी होनी चाहिए। इस काम के लिए गैलरियों में रौशनी के एक या अधिक घेरे स्थापित कर दिए जाएँ और वहाँ वे लगातार जलते रहें।'

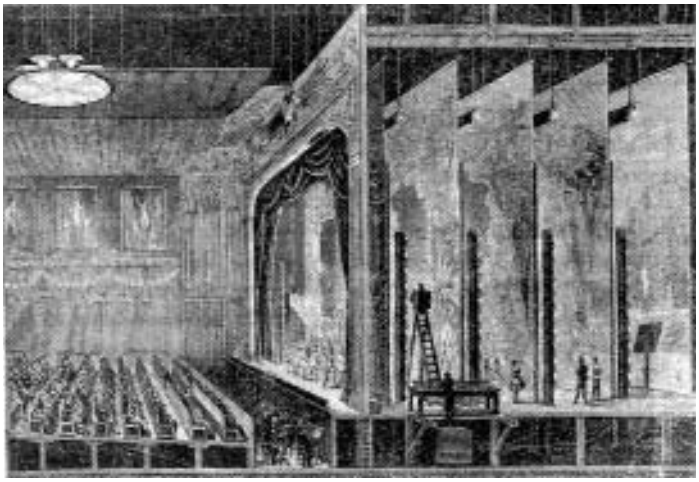

किसी प्रेक्षागृह की प्रकाश-व्यवस्था उसके सामाजिक चरित्र के बारे में बताने वाला सबसे विश्वस्त सूत्र होती है। बेरियॉथ में रिचर्ड वॉग्नर के मंचन लगभग पूरी तरह अंधकारमय प्रेक्षागृह के समक्ष होते थे। यह रंगशाला को एक सामाजिक स्थान की बजाय एक रहस्यात्मक स्थान में रूपांतरित कर देने की रैडिकल कोशिश

थी। परन्तु दर्शकों की सामाजिक सहज प्रवृत्ति ने रंगशाला के एक प्राचीन उद्देश्य को दबाने वाली इस कोशिश का विरोध किया। यह विरोध लंदन जैसी पश्चिमी युरोपीय राजधानियों के मुक़ाबले जर्मनी में संभवत: कम था क्योंकि वहाँ सामाजिक अनुभवों के स्थान पर सौंदर्यात्मक अनुभवों को स्थापित करने की एक पुरानी परम्परा रही थी। 'जब 1890 के दशक में कॉवेन्ट गार्डन में परदा उठने के बाद घरेलू लाइटें अंतत: बुझा दी गयीं तो भी पुरानी आदतों से चिपके लोगों को मंच पर ध्यान केंद्रित करने वाले अंधकारमय प्रेक्षागृह के डेयर रिंग डेस नीबेलुंगन में बैठना मंजूर नहीं था।' मंच और प्रेक्षागृह के बीच वॉग्नर जो 'रहस्यात्मक गर्त' खोलना चाहते थे वह थिएटर के इतिहास में महज़ एक कड़ी बनकर रह गया। बीसवीं सदी में थिएटर के तमाम प्रगतिशील सिद्धांतों का उद्देश्य (यदि ब्रेष्ट के महाकाव्यात्मक थिएटर के बारे में वॉल्टर बेंयामिन को उद्धृत करें तो) 'ऑर्केस्ट्रा को दर्शनीय बनाना' ही रहा है।

ये सिद्धांत मंच और दर्शकों के बीच उसी खुली संप्रेषणीयता को पुन: स्थापित करने का प्रयास करते हैं जो भ्रमवाद की विजय से पहले सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में मौजूद था। बीसवीं सदी की अधिकांश रंगशालाओं के अंधकारमय प्रेक्षागृह वॉग्नर जैसी किसी अतिउत्साही सौंदर्यात्मक दृष्टि का परिणाम नहीं हैं – बल्कि हद से हद वे ऐसी दृष्टि की मशीनी स्वत:क्रिया भर हैं। या और सरल शब्दों में कहें तो नागर रंगशाला का स्याह प्रेक्षागृह उसकी क्षीण होती सामाजिक भूमिका को प्रतिबिंबित करता है। वस्तुत: यह अँधेरा शायद रंगशाला से बिल्कुल जुदा एक अलग सौंदर्यबोध की विचारधारा का हासिल था। बताया जाता है कि 'सिनेमा के प्रेक्षागृहों में अनिवार्य रूप से किए जाने वाले अँधेरे ने इस चलन को बाक़ायदा स्थापित करने में मदद की'। रौशनी ने रंगशाला के प्रेक्षागृहों में जितने अड़ियल ढंग से अपनी जगह बनाए रखी है वह इस दृष्टिकोण की मज़बूती का प्रमाण है। इसका अर्थ यह होगा कि आज जिस अँधेरे का साम्राज्य है वह एक आयातित, रंगशाला की दुनिया से बाहर की चीज़ था। स्याह सिनेमाघरों के उदय में भ्रांतिवाद ने विकास की एक बिल्कुल भिन्न रेखा का अनुसरण किया। विकास का यह क्रम रंगशाला से पूरी तरह स्वतंत्र था।

पैनोरमा, डायोरेमा और जादुई लालटेन
जिन तस्वीरों की अब तक हम बस सतह ही देख पाते थे,
दागेएर ने हमें उनके भीतर भी झांकने का सलीका सिखा दिया।

(ज़ूल जानें, 1839)

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी की रंगशालाओं ने पेंटिंग में होने वाले प्रकाश के प्रयोग का अनुकरण करने की कोशिश की और इससे स्टेज लाइटिंग और सेट पेंटिंग के बीच एक खींचतान शुरू हो गयी। आख़िरकार सेट पेंटिंग खेत रही और लाइटिंग ने स्थानिक अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में मंच पर क़ब्ज़ा जमा लिया। प्रेक्षागृह में काफ़ी हिचकिचाहट के बाद ही अँधेरा किया जा सका क्योंकि मंच और दर्शकों के बीच पुराना संवादपरक, सामाजिक संबंध इस बदलाव के काफ़ी विरुद्ध साबित हुआ। इस बात में कोई संदेह नहीं कि अठारहवीं सदी में रौशनी का नया परिप्रेक्ष्य और उन्नीसवीं सदी की नयी प्रकाश प्रौद्योगिकी ने रंगशाला में क्रांतिकारी बदलाव ला दिए। परन्तु जिस प्रतिरोध पर विजय पाना बाक़ी था उसे देखने पर पता चलता है कि भ्रम के एक माध्यम के रूप में नए प्रकाश की सबसे बड़ी विजय रंगशाला में नहीं हुई।

सच तो यह है कि सन् 1800 के आस-पास कई बिल्कुल नए मीडिया विकसित हुए जिनमें भ्रम पैदा करने के लिए प्रकाश एक सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। उनमें, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान रौशनी के नए परिप्रेक्ष्यों ने अपना ख़ुद का संस्थागत स्वरूप विकसित कर लिया बजाय – जैसा कि थिएटर लाइटिंग के साथ हुआ – महज़ मौजूदा संस्थानों में घुसपैठ बनाकर भारी विरोध के बावजूद उन्हें

बदलने के। उन्नीसवीं सदी के नए मीडिया–पैनोरमा, डायोरेमा, जादुई लालटेन, 'dissolving views' और अंततः, फ़िल्म – ये सब विशुद्ध रूप से सौंदर्यात्मक, तकनीकी रचनाएँ थी जिनका उदय रौशनी की आत्मा से हुआ था। उनके और रंगशाला के बीच मुख्य फ़र्क़ यह था कि इन माध्यमों ने स्थानिक की बजाय एक चित्रात्मक भ्रम पैदा किया। वे मंच की बजाय दरअसल पेंटिंग का ही विस्तार थे। रौशनी मंच के मुक़ाबले इन माध्यमों में ज़्यादा परिष्कृत प्रभाव प्राप्त कर सकती थी क्योंकि यहाँ उसे पेंटिंग के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं करनी थी बल्कि उसके प्रभाव को और बढ़ाना था – द्विआयामी चित्रित भ्रम में जान डालने के लिए रौशनी के इस्तेमाल से भ्रमनाश की वह आशंका समाप्त हो जाती थी जो चित्रात्मक और स्थानिक तत्त्वों के मिश्रण से लैस रंगशालाओं में निहित थी। नए मीडिया के चित्र जगत ने भ्रम पैदा करने के असीम अवसर मुहैया करा दिए और यह भ्रम दर्शक दीर्घा के ठोस परिवेश से लाज़िमी तौर पर भिन्न था। जिस रहस्यात्मक गर्त की संकल्पना को वॉग्नर भी साकार नहीं कर पाए वह मंच और उसके दर्शकों के बीच स्वतः ही स्थापित हो गया।

नए प्रकाश आधारित मीडिया में सबसे पहला पैनोरमा था जो सन् 1800 के आस-पास विकसित हुआ। इसमें प्रकाश का बड़े संयत ढंग से इस्तेमाल किया गया था। फ्रेम को तोड़ना और तस्वीर को उसकी सीमाओं से आज़ाद करना अभी भी खुद पेंटिंग का काम था– बेलनाकार रूप में ढले, बग़ैर किसी कोर-किनारे के ये चित्र शुरुआत और अंत का भेद मिटाते हुए अपने आप में संपूर्ण थे। हालाँकि पेंटिंग में इस समस्या का हल था परन्तु तस्वीर के शीर्ष और निचले कोनों को विलीन करने के दूसरे साधन अभी ढूँढे जाने थे। यहाँ पैनोरमा ने, दर्शकों को नीम अँधेरे में बिठाकर, बाद में आए प्रकाश आधारित माध्यमों के लिए एक पथप्रदर्शक की भूमिका निभायी, जहाँ से चित्र निरंतरता में दिखायी देता था। 'देखने वाले चित्र को कमरे के बीचों-बीच एक ऐसे प्लेटफ़ॉर्म पर बैठकर देखते थे जो चित्र की आधी ऊँचाई तक उठा हुआ होता था। कमरे में प्रकाश छत में बनी एक झिर्री से आता था जो प्लेटफ़ॉर्म के ऊपर बनी हुई दुछत्ती के ज़रिए दर्शक की आँखों से ओझल रहती थी। इस दुछत्ती ने कैनवास के ऊपरी सिरे को भी ओझल कर दिया। इसी प्रकार प्लेटफ़ॉर्म और कैनवस के बीच खींचे गए एक कपड़े के ज़रिए तस्वीर का निचला सिरा भी अदृश्य हो जाता था। दर्शक, अपने सिर पर स्थित छत की परछाईं में जहाँ भी देखता, उसे तेज़ चमकते कैनवास के अलावा और कुछ नज़र न आता।' दर्शक और तस्वीर के बीच स्थित फ़ासला एक ख़ाली गलियारे में ग़ायब हो गया, जो नीम-रौशन रहता था और नीचे ग़ालिबन एक काले कपड़े से ढँका रहता था। इसका उद्देश्य था इन जगहों को जोड़ना, बल्कि उनका रूपांतरण करना। इस जगह असर से तस्वीर को एक ऐसे दायरे में रूपांतरित होता था जो देखने वाले की दुनिया का हिस्सा नहीं है; परन्तु इसके साथ ही दर्शक भी रहस्यात्मक ढंग से तस्वीर के पास बल्कि मनोवैज्ञानिक रूप से उसके भीतर खिंचा चला आता था। पैनोरमा को देखने वाले लोगों पर उसके प्रभावों की पड़ताल के बाद लिखी गयी सन् 1800 की एक रिपोर्ट में कहा गया है: 'क्योंकि हमारे पास ऐसी एक भी चीज़ नहीं है जिससे हम तुलना कर सकें इसलिए इसमें देखने वाले को मुकम्मल भ्रम का अनुभव होता है। यह कोई तस्वीर नहीं है जिसे वह देखता है बल्कि उसकी आँखों के सामने खुद क़ुदरत ही अपने आप को नुमायाँ करती जाती है।' पैनोरमा के बारे में तमाम समकालीन विवरणों से पता चलता है कि देखने वालों पर इसका एक बहुत गहरा प्रभाव पड़ता था। यह मानो देखने वाले की आँखों को अपने क़ब्ज़े में ले लेती थी। वह लाचार हो जाता था और अपने होश खो देता था, उसके सामान्य संदर्भ बिंदु ग़ायब हो जाते थे। पैनोरमा के आलोचक भी इस प्रभाव का वर्णन करते हैं। जे.ए. ऐबरहार्ड को 'मितली और चक्कर आने' का अनुभव हुआ क्योंकि–

> विभ्रम से बाहर निकलना असंभव था। मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं लोहे की बेड़ियों के ज़रिए उसके साथ जकड़ दिया गया हूँ। मुझ पर भ्रम और यथार्थ का बेमेलपन हावी हो जाता है; मैं साज़िशी भ्रम को तहस-नहस करके खुद को आज़ाद

> करना चाहता हूँ परन्तु मुझे लगता है कि मैं एक असंगत स्वप्न जगत के जाल में बहक चुका हूँ। न तो दूर उस प्लेटफ़ॉर्म से मेरी भावनाओं का आश्वासन, न ही तेज़ धूप, और न ही अपने आस-पास की वस्तुओं के साथ तुलना की संभावना मुझे बेचैनी के उस सपने से जगा पाती है जिसे मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध भी निरंतर देखते रहने को विवश रहता हूँ। विभ्रमित किए गए किसी भी व्यक्ति को जैसे ही भ्रम अप्रीतिकर प्रतीत होने लगे वह उसे समाप्त करने के लिए इन साधनों का उपयोग कर सकता है। परन्तु पैनोरमा के दर्शक को ऐसे साधन उपलब्ध नहीं हैं।

डायोरेमा को पहली बार 1822 में दागेएर और बोल्टन ने सार्वजनिक रूप से पेश किया जिसे फ़ौरी कामयाबी मिली। इसमें रौशनी को पैनोरमा से भी ज़्यादा परिष्कृत ढंग से प्रयोग किया गया था और इसमें जो भ्रम पैदा होता था वह एक बिल्कुल भिन्न सिद्धांत पर आधारित था। जहाँ एक तरफ़ पैनोरमा में एक बेलनाकार तस्वीर होती थी वहीं दूसरी तरफ़ डायोरेमा में छेद में आँख लगाकर देखना पड़ता था। इसमें भ्रम तस्वीर के निरंतर स्वरूप से नहीं बल्कि रौशनी में उतार-चढ़ाव के निरंतर परिवर्तनशील दृश्य से पैदा होता था। 'द टाइम्स' ने दागेएर के डायोरेमा 'वैली ऑफ़ सार्नेन' के बारे में लिखा कि 'सबसे ज़बर्दस्त प्रभाव रौशनी के उतार-चढ़ाव का है।'

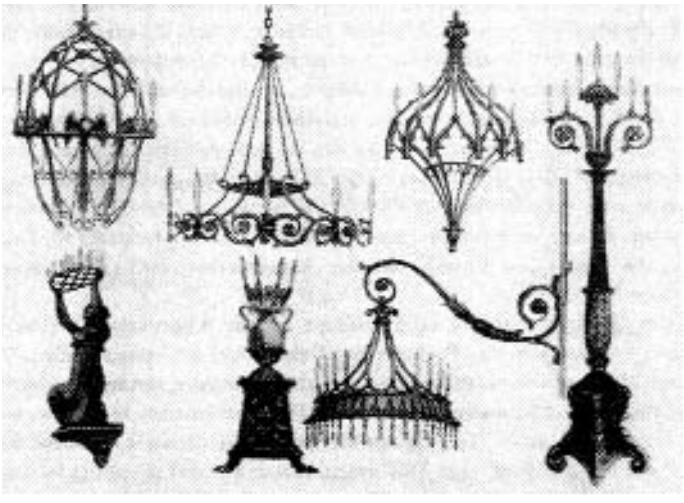

> ग्रीष्म के एक शांत, मृदुल, मनोहारी, और सौम्य दिन के स्थान पर क्षितिज धीरे-धीरे बदलने लगता है। गहरे बादल छाने लगते हैं और आख़िर में एक अंधकार व्याप्त हो जाता है। यह अंधकार रात का नहीं है, यह आने वाले तूफ़ान का अँधेरा है – एक धुंधला, तूफ़ानी अँधेरा – यह हर चीज़ को बेरंग कर देता है और हम ऐसी मनोदशा में पहुँच जाते हैं मानो हमें दूर कहीं से बिजली कड़कने की आवाज़ का इंतज़ार-सा हो, या हमें लगता है कि बड़ी-बड़ी बूंदे, बरसात का आभास देने वाली बूंदे पड़ रही हैं। झील (जो तस्वीर के एक बड़े हिस्से को घेरे हुए है) पर रौशनी का यह उतार-चढ़ाव बड़े ख़ूबसूरत ढंग से गढ़ा गया है। खिली धूप में चमकते आसमान का गर्माहट भरा प्रतिबिंब धीरे-धीरे मंद पड़ता है और बढ़ती स्याह परछाइयाँ पूरे पानी पर पसर जाती हैं ...।

डायोरेमा के यथार्थवादी प्रभाव को बडेमायर ने इस प्रकार चित्रित किया:

> डायोरेमा में प्रदर्शित की जा रही प्रत्येक तस्वीर – हमेशा दो तस्वीरें प्रदर्शन पर रहती हैं – 22 मीटर ऊँची और 14 मीटर चौड़ी थी। दागेएर द्वारा विकसित की गयी एक तकनीक का इस्तेमाल करते हुए एक पारदर्शी स्क्रीन पर रंग भर दिया गया था जो अपेक्षित प्रभाव के अनुसार अपारदर्शी या शफ़्फ़ाक पैदा कर सकता था। तस्वीर के आगे लगी शीर्ष लाइटिंग और इमारत के पिछली तरफ़ स्थित खिड़कियों के ज़रिए

> रौशनी आती थी। भीतर आने वाली रौशनी की मात्रा को कम-ज़्यादा करने के लिए खिड़कियों में विभिन्न रंगों के कई स्क्रीन लगाए गए थे। दर्शक कमरे में ऐसे ही बैठते थे जैसे रंगशाला में बैठे हों। कुर्सियों की सीढ़ीनुमा क़तारों पर पर घुप अँधेरा था। सबसे आगे वाली क़तार तस्वीर से 13 मीटर दूर थी; इस दूरी को काले कपड़े की एक सुरंग में लपेट दिया जाता था जिससे वैसा ही प्रभाव पैदा होता था जो एक बिना फ़्रेम वाले बाइस्कोप या झाँक-तमाशा (peep show) देखने पर होता था।

हालाँकि पैनोरमा और डायोरेमा का काम करने का तरीक़ा अलग-अलग था परन्तु जगह दोनों के बीच समान थी, दर्शकों और तस्वीर के बीच स्थित काले कपड़े में लिपटी हुई। बडेमायर इसे एक सुरंग, एक दृश्य सुरंग कहते हैं। पैनोरमा में यह जगह भी उतनी ही गोलाकार थी जितनी की ख़ुद तस्वीर थी और इसे केवल नीम अँधेरा किया गया था। परन्तु डायोरेमा में यह एक सचमुच की और स्याह काली सुरंग थी। दृश्य सुरंग एक चाक्षुष उपकरण था जो अनंत का भ्रम पैदा करता था। निश्चय ही यह झाँक-तमाशा और कैलाइडोस्कोप का ज़्यादा बड़े पैमाने पर विकास था। इन तमाम चाक्षुष उपकरणों और डायोरेमा की एक साझी ख़ासियत यह थी कि इनमें तस्वीर और दर्शक के बीच का फ़ासला समाप्त हो जाता था और दर्शक को आभास होता था मानो वह तस्वीर के ऐन भीतर बैठा हो। आउरबाख़ के मुताबिक़, इससे यह संभव हो गया कि

> दर्शक की नज़र में तस्वीर की सीमाओं को समाप्त कर दिया जाए जबकि वास्तव में वह सीमाओं में बंधी हुई होती है। यह प्रभाव प्राप्त करने के लिए तस्वीर से उसका चौखटा हटा दिया जाता है और उसे घटा या बढ़ा कर तस्वीर के आगे रख दिया जाता है। इस तरह तस्वीर का चौखटा एक ऐसा छेद बन जाता है जिसके पार आपको देखना है और उसके पीछे फैली तस्वीर दर्शक को निस्सीम दिखायी देती है जबकि प्रभावत: उसकी 'दृश्यता' बढ़ जाती है।

प्रसंगवश, इसी प्रकार की तकनीकी कातेल और शिंकेल द्वारा डिज़ाइन की गयी नाट्य परियोजनाओं में भी इस्तेमाल की गयी थी। शिंकेल ने ख़ुद भी पैनोरमा और डायोरेमा रंगने का काम किया था। कातेल द्वारा तैयार किए गए एक पृष्ठवस्त्र का आकार पैनोरमा जैसा ही था: इसकी प्रस्तावित ऊँचाई 18 मीटर (60 फ़ुट) और चौड़ाई 55 मीटर (180 फ़ुट) थी और उसे इस तरह मढ़ा गया था 'कि प्रोसीनियम के सबसे पास बैठे दर्शक भी उसके शीर्ष या बग़ली किनारों को न देख सकें'। शिंकेल की एक और परियोजना तो डायोरेमा से और भी ज़्यादा मिलती-जुलती थी। वैन ऐल्स्ट लिखते हैं कि 'शिंकेल के सेट और डायोरेमा में रचना के उन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण किया गया है: (1) एक जगह स्थित अपर्चर या मुहाना, (2) एक जगह स्थित दीवारें, 'दृश्य सुरंग', (3) भ्रमवादी 'पेंटिंग', वास्तविक सेट।' मगर इन विचारों को सन् 1800 के आस-पास के मंच पर साकार नहीं किया गया। दागेएर के उदाहरण से पता चलता है कि रंगशाला का पुराना माध्यम मरीचिका पैदा करने वाली इन नयी तकनीकों को विकसित करने का सबसे बढ़िया स्थान नहीं था।

दागेएर ने अपना करियर मंच दृश्यावली चित्रकार के रूप में शुरू किया था। डॉगेरेटाइप द्वारा अमर होने से काफ़ी पहले ही वे अपने सेट और विशेष रूप से अपने लाइटिंग प्रभावों के लिए मशहूर हो चुके थे। समकालीन समीक्षाओं में संगीतकार या गीतकार की बजाय अगर तारीफ़ होती थी तो आम तौर पर सेट पेंटर की ही होती थी। दागेएर ने पुराने में नए माध्यम की बुनियाद डाल दी। 'दागेएर ने एल्वाद के लिए जो स्टेज सेट्स बनाए थे उनमें प्रयोग की गयी तकनीकी को बाद में डायोरेमा में परिष्कृत किया गया। इसमें हम डायोरेमा की तमाम ख़ासियतों को चिह्नित कर सकते हैं: दृश्य सुरंग, जो यहाँ पर एक सचमुच का मंच थी, की बाक़ायदा दीवारें थी और उसे इस्तेमाल किया जा सकता था। अंधकारमय अग्रभाग के कारण प्रकाशमान पृष्ठभाग उससे कहीं ज़्यादा भ्रामक प्रभाव डालता है जितना कि वह एक

सामान्य मंच पर डालता।' बहरहाल, अंततः दागेएर ने मंच के लिए काम करना बंद कर दिया क्योंकि यह उस शक्तिशाली भ्रम को बनाए रखने के लिए बहुत छोटी थी जो वह प्रकाश के माध्यम से रचते थे। अभिनेता, भाषा और कथानक इस नए भ्रमवाद से संगति में नहीं थे। द्विआयामी डायोरेमा के साथ अपनी पहली कामयाबी के बाद दागेएर ने एक त्रिआयामी अग्रभाग के साथ एक नयी क़िस्म विकसित की। मगर यह इतनी कामयाब नहीं रही जो कि इस बात का सबूत है कि वास्तविक स्थान हमेशा ही स्थान के भ्रम को नष्ट कर देता है। पेंटिंग का यथार्थ के भ्रम में जादुई रूपांतरण दृश्य सुरंग के ज़रिए संपन्न होता था। (वाग्नर के 'रहस्यात्मक गर्त' का भी कुछ ऐसा ही उद्देश्य था।) जादुई लालटेन और 'दृश्यलोप' (dissolving views) को डायोरेमा और फ़िल्म के बीच एक संपर्क बिंदु की संज्ञा दी जा सकती है। इनमें भी उसी नियम का पालन किया जाता है जिस नियम पर फ़िल्म चलती है। फ़र्क़ था तो केवल इस बात का कि फ़िल्मों में तस्वीरों की जगह एक प्रोजेक्टर आधारित और गतिशील तस्वीर आ गयी। सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ फिर भी यही रही कि दर्शक अँधेरे में बैठकर एक आलोकित दृश्य को देखता था। 'आप एक अँधेरे कमरे/डार्क रूम में हैं। अचानक एक विशाल खिड़की खुलती है। क्या नज़र आता है आपको? एक तस्वीर? जी नहीं, खुद प्रकृति।' सेंट सिमॉनवादी पत्रिका *ग्लोब* में दागेएर के एक डायोरेमा का यह विवरण उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में इसके बाद आए प्रत्येक प्रकाश आधारित माध्यम से पैदा हुई छवियों को उजागर कर देता है। इसी प्रकार, ज़ूल जानें की यह टिप्पणी कि दागेएर ने तस्वीर के भीतर जाने का रास्ता खोल दिया, की तुलना सौ साल बाद बेला बालास्ज़ द्वारा फ़िल्म छवि के बारे में दिए गए ब्यौरे से की जा सकती है: 'कैमरा मेरी आँखों को अपने में समा लेता है। तस्वीर के बीचों-बीच। मैं चीज़ों को फ़िल्म द्वारा रचे गए अंतराल की नज़र से देखता हूँ। मैं फ़िल्म के पात्रों से घिरा हुआ हूँ और उसकी उन गतिविधियों में शामिल हूँ जिन्हें मैं चारों तरफ़ से देख रहा हूँ।'

एक अंधकारमय प्रेक्षागृह और एक तेज़ रौशनी में नहाई तस्वीर डायोरेमा से लेकर सिनेमास्कोप स्क्रीन तक इन तमाम माध्यमों की एक साझा विशेषता थी। यह विशेषता पिछले 150 वर्षों के तमाम तकनीकी बदलावों के बावजूद यथावत् रही है। प्रकाश आधारित मीडिया में रौशनी केवल मौजूदा दृश्यों को प्रकाशमान ही नहीं करती; वह उन्हें रचती है। डायोरेमा और सिनेमा की दुनिया एक भ्रामक स्वप्न जगत है जो रौशनी के ज़रिए दर्शक के सामने उजागर हो जाता है। दर्शक इसमें खुद को उसी तरह भुला सकता है जैसे वह अलाव या मोमबत्ती की लौ को एकटक निहारते हुए खो जाता है। इस मामले में रंगशाला के मुक़ाबले फ़िल्म आग के ज़्यादा निकट दीखती है। किसी नाटक का दिन के उजाले और खुले में मंचन करना बाक़ायदा मुमकिन है जबकि दिन की रौशनी में अलाव उतना ही बेतुका, बल्कि अदृश्य होगा जितना दिन की रौशनी में दिखायी जाने वाली फ़िल्म अदृश्य होती है। अपना खुद का यथार्थ गढ़ लेने की कृत्रिम प्रकाश की शक्ति केवल अँधेरे में ही उजागर हो पाती है। अँधेरे में रौशनी ही जीवंत है। अँधेरे में बैठा और प्रकाशमान तस्वीर की तरफ़ देखता दर्शक अपना पूरा ध्यान उसी पर केंद्रित कर देता है – बल्कि कह सकते हैं कि अपनी ज़िन्दगी केंद्रित कर देता है। अँधेरे में प्रकाशमान दृश्य समुद्र में पड़े लंगर की तरह है। दागेएर के समय से ही प्रकाश आधारित मीडिया भ्रम की जो शक्ति प्रदर्शित करते आ रहे हैं यह उसका स्रोत है। अँधेरे में बैठा दर्शक अपने और प्रकाशमान तस्वीर के साथ तनहा है क्योंकि अँधेरे में सामाजिक संपर्क बेवजूद हो जाते हैं। अँधेरा निजी परिप्रेक्ष्यों को बढ़ा देता है, उन्हें कई गुना बड़ा कर देता है। अंधकारमय प्रेक्षागृह प्रकाशमान तस्वीर को एक ऐसी सघनता प्रदान कर देता है जो उसमें अन्यथा नहीं हो सकती थी। प्रत्येक प्रकाशमान तस्वीर, सुरंग – इस मामले में दृश्य सुरंग – के दूसरे छोर पर दिखने वाली रौशनी की किरण और अँधेरे से मुक्ति जैसी मालूम होती है।

योगेन्द्र दत्त